RNI No.: RAJBIL/2013/54153

ISSN : 2322-0074

अलख दृष्टि

ALAKH DRISHTI

(भाषा, दर्शन, साहित्य, संस्कृति एवं मानविकी की संवाहिका त्रैमासिक शोध पत्रिका)

वर्ष-4 • अंक-01 • त्रैमासिक • जनवरी-मार्च, 2016

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	व्याकरणमहाभाष्य में विवेचित औषधि एवं चिकित्सा पद्धति	प्रो. सत्यप्रकाश दुबे	06-10
02.	भगवद्गीता का भक्ति योग	प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'	11-16
03.	वस्तु -शब्द मैत्री का कवि - भवानी प्रसाद मिश्र	डॉ. ममता खांडल	17-21
04.	भारत में सामाजिक न्याय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	डॉ. जुगल किशोर दाधीच	22-33
05.	अध्यात्म एवं विज्ञान से चरित्र निर्माण और वैश्विक शान्ति	प्रो. कंचन शर्मा	34-36
06.	स्त्रीत्व को आवाज देती आज की नारी	सुश्री दिव्या सिंह	37-40
07.	Nonviolence and Peace Education	Prof. Anil Dhar	41-46
08.	Distance Education and Women in India	Tilak Raj Sharma, Mohd. Alyas	47-57

भगवद्गीता का भक्ति योग

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

भक्ति शब्द 'भज्' धातु से बना है। इसका अर्थ 'सेवा करना' है। 'भज्' भजन अर्थात आराधना करने अर्थ में भी है। जब भक्त सेवा या आराधना के द्वारा भगवान से साक्षात सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तो इसे ही गीता में 'भक्तियोग' कहा गया है। नारद के अनुसार भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है। शांडिल्य के अनुसार परमात्मा की सर्वोच्च-अभिलाषा ही भक्ति है। नारद के अनुसार भगवान के प्रति उत्कट प्रेम होने पर भक्त भगवान के रंग में ही रंग जाते हैं। वह प्रेम में इतना मदमस्त हो जाता है कि इसे भगवान के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता है। भगवान के प्रति उसका अनुराग इतना तीव्रतम होता है कि उसे यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान ही दृष्टिगोचर होते हैं। भक्ति में भक्त अपने आपको परमात्मा में विलीन कर लेता है। परमात्मा से पृथक उसे कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है।

नारदसूत्र में भक्ति के नौ प्रकार माने गये हैं-

श्रवणं कीर्तनं विष्णो : स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।1

अर्थात् भगवान के गुणों को सुनना, गुणगान करना, भगवान को सदैव स्मरण करना, उनके चरणों की सेवा करना, पूजा करना, वन्दना करना, भगवान की दासता स्वीकार करना, उन्हें अपना मित्र या सखा समझना और भगवान के समक्ष अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर देना ही नवधा भक्ति है। नारदसूत्र की इस नवधा भक्ति में से भक्त में एक गुण या सभी गुण पर्याप्त हैं। स्वयं भगवान कहते हैं- मैं न तो योगियों के हृदय में वास करता हूँ और न ही स्वर्ग में रहता हूँ अपितु मैं वहीं रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मेरा गुणगान करते हैं।2 इसीलिए रामानुज जैसे आचार्य भक्तियोग को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार गीता का उपक्रम और उपसंहार अर्थात् आदि और अन्त दोनों ही भक्ति योग है। अतः गीता का एक मात्र श्रेष्ठ मार्ग भक्ति योग ही है ऐसा रामानुज मानते हैं। अतः गीता का मुख्य तात्पर्य भक्त का भगवान की शरण में चले जाना है। गीता में भगवान के उपदेश

का प्रारम्भ तब होता है जब अर्जुन भगवान से कहते हैं- मैं मोह में आकंठ डूब गया हूँ, मेरा मन भ्रम के भंवर में जकड़ गया है और मुझे अपने हित का आभास नहीं हो रहा है। आप मेरे बन्धु, गुरू, सखा और सर्वस्व इष्ट देव हैं। आप मुझे शिक्षा दें, मैं आपकी शरण में हूँ, मुझे उचित मार्ग का ज्ञान करायें।3

भक्ति के लिए श्रद्धा आवश्यक - यह बात सही है कि मनुष्य किसी वस्तु का चाहे जितना भान प्राप्त कर ले या उसके प्रति प्रवृत्त हो जाये किन्तु जब तक उस ध्येय वस्तु के प्रति श्रद्धानिष्ठ नहीं होगा तब तक उसकी प्राप्ति में सिद्धि नहीं मिल सकती। अर्थात् अन्तिम सिद्धि श्रद्धा से ही मिलती है। यही बात गीता के परम शुभ तत्त्व आत्मसिद्धि, आत्मलाभ या आत्मसाक्षात्कार के विषय में भी लागू होता है। इसी प्रकार जब तक हम ईश्वर के प्रति श्रद्धावान नहीं होंगे, उसमें हमारी निष्ठा नहीं हो सकती। परमपिता की भक्ति भी परमपिता के प्रति श्रद्धा या आस्था से ही हो सकती है। यों भी कहा जा सकता है कि श्रद्धा साधन है तो भक्ति साध्य है और भक्ति साधन है तो ईश्वर प्राप्ति साध्य है। भगवान कहते हैं कि श्रद्धा तीन प्रकार की हैं-

"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावना।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।"4

अर्थात् देहधारी जीव द्वारा अर्जित गुणों के अनुसार उसकी श्रद्धा तीन प्रकार की है- सतो गुणी, रजो गुणी एवं तमोगुणी। इस प्रकार संसार में विभिन्न प्रकार की श्रद्धाएं दृष्टिगोचर होती है और विविध प्रकार की श्रद्धाओं के अनुसार विभिन्न प्रकार के धर्म होते हैं। धार्मिक श्रद्धा का असली सिद्धान्त सतो गुण में स्थित होता है। श्रद्धा की विभिन्नता के कारण गीता में पूजा की भिन्नता भी स्वीकार की गयी है, जो इस प्रकार है-

"यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।"5

अर्थात् सतोगुणी श्रद्धावान व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं, रजोगुणी श्रद्धावान यक्षों व राक्षसों की तथा तमोगुणी श्रद्धावान व्यक्ति भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है - 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव - शब्दितम्'6 अर्थात् जब व्यक्ति सतोगुणी होता है तो वह वासुदेव की पूजा करता है। तात्पर्य यह है कि जो लोग गुणों से पूर्णतया शुद्ध हो चुके हैं और दिव्य पद को प्राप्त होते हैं, वे ही भगवान की पूजा कर सकते हैं तथा सर्वसिद्धि प्राप्त कर सकते हैं किन्तु जो श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान, तप आदि करते हैं वह नश्वर हैं, वह 'असत्' कहलाते हैं और इस जन्म तथा अगले जन्म दोनों को ही व्यर्थ करते हैं-

"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्यच्यते पार्थ नच तत्प्रेत्य नो इह।।"7

निर्गुण भक्ति एवं सगुणभक्ति- गीता में दो प्रकार की भक्ति का उल्लेख है- निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति में निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान किया जाता है जबकि सगुण भक्ति में भक्त अपनी सम्पूर्ण शक्ति का नियोजन ईश्वर की सेवा में करता है। यहाँ पर अर्जुन कृष्ण से प्रश्न करते हैं कि इन दोनों भक्तियों में कौन भक्ति श्रेष्ठ हैं? भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान ने बताया है कि जीव भौतिक शरीर नहीं है, वह आध्यात्मिक स्फुलिंग है और परमसत्य परमपूर्ण है। सातवें अध्याय में उन्होंने जीव को परमपूर्ण का अंश बताते हुए पूर्ण पर ध्यान लगाने की सलाह दी है। पुनः आठवे अध्याय में कहा है कि जो मनुष्य भौतिक शरीर का त्याग करते समय कृष्ण का ध्यान करता है वह कृष्ण के धाम तक पहुंच जाता है। यही नहीं, छठे अध्याय के अन्त में भगवान स्पष्ट कहते हैं कि योगियों में जो भी अपने अन्तःकरण से कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता है, वही परमसिद्धि को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक अध्याय का यही निष्कर्ष है कि मनुष्य कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अनुरक्त होकर चरम आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करे। कृष्ण भगवान गीता में स्वयं भी कहते हैं-

"मय्यावेश्य मनो में मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धयापरयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः।।"8

अर्थात जो लोग अपने मन को मेरे साकार रूप में एकाग्र करते हैं और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मेरी पूजा करने में सदैव लगे रहते हैं वे मेरे द्वारा परमसिद्ध माने जाते हैं।

इसके विपरीत जो परमेश्वर के अचिन्त्य, अव्यक्त, निराकार स्वरूप के पथ का अनुशरण करता है, वह ज्ञान योगी कहलाता है और जो व्यक्ति भगवान की भक्ति में रत रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहते हैं, वे भक्तियोगी कहलाते हैं। ज्ञानयोग का पथ यद्यपि मनुष्य को उसी लक्ष्य तक पहुंचाता है, किन्तु है अत्यन्त कष्टकारक। भक्तियोग भगवान की प्रत्यक्ष सेवा होने के कारण सुगम है और देहधारी के लिए स्वाभाविक भी है लेकिन आध्यात्मिक साक्षात्कार के लिए निराकार विधि अथवा निर्गुण विधि का मार्ग कठिन है। इन्द्रियातीत अनुभूतियों को समझना आसान नहीं है। इसलिए निर्गुण भक्ति के स्थान पर सगुण भक्ति अधिक श्रेयस्कर है।

सगुणभक्ति में सर्व समर्पण सम्भव - गीता जिस सगुण भक्ति को श्रेयस्कर मानती है उसमें भगवान के नाम को सुनना, उनके नाम का जाप करना, उन्हें ही याद करना, उनकी सेवा करना, उनकी अर्चना एवं वन्दना करना, भगवान का ही दास बनना और उनका चित्र बनाना तथा उनमें अपने आपको अर्पित कर देना होता है। भगवान का भजन, अर्चना, उपासना, ध्यान आदि करना ही भगवान की भक्ति है। भक्त भगवान के सगुण रूप में ही अनुरक्त रहता है, निर्गुण रूप में नहीं। वह साकार ईश्वर की उपासना करता है, निराकार की नहीं। ज्ञानी ईश्वर को अद्वैत मानता है और भक्त ईश्वर को भगवान समझता है। ज्ञानी ईश्वर को अद्वैत मानता है, आत्मा, परमात्मा को एक मानता है। सारी सृष्टि ब्रह्मरूप होने से वह अपने को ब्रह्म समझता है - अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि। किन्तु भक्त ईश्वर **की उपासना द्वैत भाव से करता** है। भगवान तथा भक्त में भेद है- भगवान पूर्ण है और भक्त अपूर्ण है। भगवान असीम तथा भक्त सीमित है। जब भक्त अपना सब कुछ भगवान के प्रति अर्पित कर देता है तो वह अपूर्ण का पूर्ण के प्रति अथवा ससीम का असीम के प्रति समर्पण कहलाता है। गीता में कहा गया है-

"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।"9

अर्थात् जो अपने सारे कार्यों को मुझमें अर्पित करके तथा अनन्य भाव से मेरी भक्ति करते हुए मेरी पूजा करते हैं, वे ही मेरे सच्चे भक्त हैं। भक्ति योग का तात्पर्य है 'अनन्यता, परमपूज्य परमात्मा के अतिरिक्त किसी दूसरे का भाव मन में न लाना ही अनन्य भाव कहलाता है। गीता में कहा गया है कि अनन्य भाव से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। जिस परमात्मा के अन्तर्गत सर्वभूत है और जिस सच्चिदानन्दधन परमात्मा से यह समस्त जगत परिपूर्ण है, वह सनातन, अव्यक्त परमपुरूष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है। सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान परमेश्वर में ही सब कुछ समर्पित करके सदा सन्तुष्ट रहना और सब प्रकार से अनन्यप्रेमपूर्वक नित्य निरन्तर भगवान का स्मरण करना ही अनन्य भक्ति है। अनन्य भक्ति के द्वारा साधक अपने उपास्यदेव परमेश्वर को सहज प्राप्त करता है।

अनन्यचित्त पूर्वक अनन्य भक्ति- जैसे भगवान को छोड़कर किसी अन्य में भक्ति नहीं है चाहे वह कितना ही उपयोगी वस्तु या पदार्थ हो उसी प्रकार सम्पूर्ण चित्त को भगवान में लगाना ही अनन्य चित्त है। अनन्य भक्ति को ही गीता में अनन्य चित कहा गया है। अनन्य चित्त पूर्वक की गयी भक्ति से ईश्वर प्राप्ति अवश्य होता है। भगवान कृष्ण स्वयं गीता के आठवें अध्याय में कहते हैं-

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।10

अर्थात जो मनुष्य मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ परमेश्वर का स्मरण करता है उस नित्य निरन्तर मुझ में युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ। तात्पर्य है कि जिसका चित्त अन्य किसी भी वस्तु में न लगकर निरन्तर अनन्य प्रेम से परमेश्वर में ही लगा रहता है, वही अनन्यचित्त है। वह सर्वदा भगवान के नाम, रूप, गुण एवं लीला आदि का स्मरण करते हुए ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। अगर अनन्य चित्त भाव से मुझमें स्थिर नहीं हो सकते तो 'भक्ति योग' के विधि-विधानों का पालन करो। यदि भक्ति योग के विधि विधानों का भी अभ्यास नहीं कर सकते तो मेरे लिए कर्म करने का प्रयत्न करो (मदर्थमपि कर्माणि)। यदि तुम सम्पूर्ण भाव पूर्वक मेरे लिए कर्म करने में असमर्थ हो तो तुम समस्त कर्मफलों को त्यागकर (सर्वकर्म फलत्याज्यं) कर्म करने

तथा आत्मस्थित होने का प्रयत्न करो। गीता में कृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि तुम अपने चित्त को स्थिर करो और अपनी सारी बुद्धि मुझमें लगाओ। इस प्रकार तुम निस्सन्देह मुझमें सदैव वास करोगे। अर्थात अपने चित एवं बुद्धि को भगवान में लगाने से भक्त सदैव भगवान में वास करता है। कहा गया है-

"मय्येव मन आधत्स्व मयिबुद्धिं निवेशय।
निवसिस्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।"11

भक्तियोग में प्रिय भक्त की पहचान-

जैसे भक्त के लिए सबसे प्रिय भगवान होते हैं, वह सर्वात्मना भगवान का ध्यान एवं पूजा करता है वैसे ही भगवान के लिए भक्त भी प्रिय होता है। किस प्रकार का भक्त भगंवान के लिए प्रिय है, गीता में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कहा गया है-

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण एवं च।
निर्ममो निरहंकार : समदुःखसुख क्षमी।।
संतुष्टं सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धियोः मद्भक्तः से मे प्रियः।।"12

अर्थात जो किसी से द्वेष नहीं करता, सभी जीवों का दयालु मित्र है, जो अपने को स्वामी नहीं मानता और मिथ्या अहंकार से मुक्त है, जो सुख-दुःख में समभाव रहता है, सहिष्णु है, सदैव आत्मतुष्ट रहता है, आत्मसंयमी है तथा जो निश्चय के साथ मुझमें मन तथा बुद्धि को स्थिर करके मेरी भक्ति में लगा रहता है, ऐसा भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।

जिससे किसी को कष्ट नहीं पहुँचता तथा जो अन्य किसी के द्वारा विचलित नहीं किया जाता, जो सुख- दुःख में, भय तथा चिन्ता में समभाव रहता है, वह मुझे प्रिय है।

(यस्मान्नो, द्विजते स मे प्रियः 12/15)

जो सामान्य क्रियाकलापों पर आश्रित नहीं है, जो शुद्ध है, दक्ष है, चिन्तारहित है, समस्त कष्टों से रहित है और किसी फल के लिए प्रयत्नशील नहीं है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

(अनपेक्षः शुचिर्दक्ष.....समेप्रिय : 12/16)

जो न कभी हर्षित होता है, न शोक करता है, जो न पछतावा करता है, न इच्छा करता है तथा जो शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार की वस्तुओं का परित्याग कर देता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।

(यो न हृष्यति..... समेप्रियः 12/17)

कृष्ण कहते हैं कि मेरा भक्त सदैव कुसंगति से दूर रहता है। मानव समाज का यह स्वभाव है कि कभी किसी की प्रशंसा की जाती है, तो कभी उसकी निन्दा की जाती है। लेकिन भक्त कृत्रिम यश तथा अपयश, दुःख - सुख से ऊपर उठा हुआ होता है। वह अत्यन्त धैर्यवान होता है। वह भगवान की कथा के अतिरिक्त कुछ नहीं बोलता है, अतः उसे मौनी कहा गया है। मौनी से तात्पर्य कुछ न बोलने से नहीं है अपितु अनर्गल प्रलाप न करने से है। भक्त समस्त परिस्थितियों में सुख की अनुभूति करता है, कभी दुःख की अनुभूति नहीं करता है। सुख-दुःख में सम रहना उसकी आदत है। कभी उसे स्वादिष्ट भोजन मिलता है तो कभी नहीं, किन्तु वह सदैव सन्तुष्ट रहता है। वह आवास की सुविधा की चिन्ता नहीं करता है। वह कभी पेड़ के नीचे रह सकता है, तो कभी अत्यन्त उच्च प्रासाद में, किन्तु इनमें से वह किसी के प्रति आसक्त नहीं रहता है। वह स्थिर कहलाता है, क्योंकि वह अपने संकल्प तथा ज्ञान में दृढ़ होता है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। कहा भी गया है-

"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुख-दुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।
तुल्यनिन्दा स्तुति मौनी सन्तुष्टो येन् केन चित्।
अनिकेतः स्थिर मतिः भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।"13

अन्त में प्रिय भक्तों की श्रेणी में अत्यन्त प्रिय भक्त के बारे में गीता कहती है-

"येतु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धानामत्परमा भक्तास्तेऽतीव में प्रियाः।।"14

अर्थात जो इस भक्ति रूपी धर्मामृत का अनुसरण करते हैं और जो मुझे ही अपना चरम लक्ष्य बनाकर श्रद्धापूर्वक मुझमें लीन रहते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

भक्तियोग में ईश्वर सर्वोपरि - भक्त, भक्ति और ईश्वर की त्रैक भक्तियोग की आवश्यकता है। इनमें से

किसी एक का अभाव भक्तियोग को चरितार्थ नहीं करता। जहाँ भक्त और भक्ति है वहां इनका ईष्ट ईश्वर आवश्यक है। ऐसा नहीं हो सकता कि ईश्वर के बिना भक्त और भक्ति का कोई महत्व हो। भक्त का आराध्य ईश्वर है तो भक्त को ईश्वर तक पहुँचने के लिए भक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। भक्ति के बिना ईश्वर तक नहीं पहुंचा जा सकता। भक्ति भी इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका आराधक भक्त का अस्तित्व है। भक्त के बिना भक्ति निष्प्रयोजन है। भक्ति की उपयोगिता भक्त के कारण है। भक्तियोग में भक्त और भगवान का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। तादात्म्य सम्बन्ध में भक्त और भगवान की एकैकरूपता हो जाती है, द्वैत भाव समाप्त हो जाता है। नीर-क्षीर की तरह भक्त भगवान की एकरूपता भक्ति योग में मान्य नहीं है। भक्तियोग का महत्व ही इसलिए है कि इसमें भक्त और भगवान में द्वैत बना रहता है। यदि भक्त-भगवान का आत्मैक्यभाव हो जाये तो भक्ति की उपादेयता समाप्त हो जाती है। जबकि भक्ति योग में भक्ति की उपादेयता सदैव बनी रहती है। यहाँ भक्त और सर्वोपरि सत्ता ईश्वर में एकैकरूपता न होकर सामीप्य सम्बन्ध स्थापित होता है। अर्थात् भक्त अपनी श्रद्धापूर्वक भक्ति से ईश्वर के समीप अर्थात् निकटस्थ हो जाता है। रामानुज भक्ति के महात्म्य को प्रदर्शित करते हुए कहते है-

ब्रह्मणो भावः न तु स्वसूपैक्यम् ।15

अर्थात् मोक्ष की स्थिति में भक्त में भगवान के गुण आ जाते हैं किन्तु भक्त भगवान नहीं बनता है। अतः भक्ति योग में ईश्वर सर्वोपरि है। उसी को प्राप्त करना भक्तियोग का चरम लक्ष्य है। गीता में भगवान कहते हैं-

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मदभक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।16

अर्थात् जो पुरूष केवल मेरे लिए सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, अनासक्त है और सभी प्राणियों में वैर भाव से रहित है, वही अनन्त भक्ति सम्पन्न पुरूष मुझको प्राप्त होता है। अर्थात् ईश्वर भक्ति ही ईश्वर प्राप्ति है।

सर्वात्मना समर्पण भाव - यदि ईश्वर भक्ति की पराकाष्ठा है तो वही भक्त का अन्तिम लक्ष्य है, भक्त का आराध्य एवं निकष है। भक्त सर्वमना, सर्वभावना, सर्वकर्मणा अपना सर्वस्व ईश्वर में समर्पित करता है। यह समर्पण तीन प्रकार है-

1. फल समर्पण- भक्त कर्तव्यकर्म को करता है किन्तु फल को ईश्वर पर समर्पित कर देता है। गीता में कृष्ण अर्जुन को यहीं संदेश देते हैं कि बिना किसी फल की चिन्ता किये कर्म करते रहना चाहिए। गीता कहती है-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृति नोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चं भरतर्षभ।।"

अर्थात् आर्त (जो पीड़ित है), जिज्ञासु (जो इच्छा रखते हैं), अर्थार्थी (धन चाहते हैं) ज्ञानी (वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप जानने वाले), ये सारे लोग मेरी भक्ति करते हैं किन्तु इनकी शुद्ध भक्ति निष्काम होती है और उसमें किसी लाभ की आकांक्षा नहीं रहती। पाश्चात्य दार्शनिक इमेन्युअल काण्ट भी फल की चिन्ता किये बिना कर्म करने की बात कही थी किन्तु गीता और काण्ट में यही अन्तर था कि जहां काण्ट फल की तरफ ध्यान न देने पर जोर देता है वहीं गीता फल को ईश्वर पर छोड़ने पर बल देती है। भगवान को प्रसन्न रखना, भगवान की आराधना करना तथा अपना सर्वस्व भगवान को अर्पित करना ही उसका यथेष्ट है।

2. भारसमर्पण- भक्त अपनी रक्षा का भार भगवान पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाता है। वह पाप-पुण्य आदि की भावना से रहित हो जाता है। भगवान का भक्त प्रहलाद अभय को प्राप्त था। उसे इस बात का कोई भय नहीं था कि उसका जीवन खतरे में है। जब भक्त की सुरक्षा का भार भगवान पर हो तो भला भक्त को किस बात की चिन्ता?

3. स्वरूप-समर्पण- यहां भक्त का अपना कोई स्वरूप नहीं रह जाता। वह अपने स्वरूप का त्याग कर भगवान के सम्मुख आत्मसमर्पण करता है, अपने अहंकार को भगवान के स्वरूप में समाहित कर निरंहकारी हो जाता है। अहंकार की निवृत्ति से भक्त भगवान का सामीप्य प्राप्त करता है। अतः वह भगवान से अपने आपको पृथक नहीं समझता।

भक्तियोग का निहितार्थ शरणागत की रक्षा

भगवान के प्रति अनन्य भाव एवं अनन्यचित होने के साथ-साथ शरणागत की रक्षा की भावना भी भक्तियोग का फलितार्थ है। शरणागत का महत्व बतलाते हुए स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं-

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षमिष्यामि मा शुचः।।"18

अर्थात सभी धर्मों को छोड़कर तू मेरी ही शरण में आ जाओ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। शरणागत की सुरक्षा की अद्भुत गारण्टी यहां प्रस्तुत है। भक्त के लिए भगवान ही परम-प्राप्य, परमगति, परम आश्रय और सर्वस्व समझना तथा उनको अपना स्वामी, भर्ता, प्रेरक, रक्षक और परम हितैषी समझकर सब प्रकार से उन पर निर्भर होकर निर्भय हो जाना ही साध्य है।

भक्त के उद्धार के लिए भगवान सर्वदा तत्पर रहते हैं। भक्त सर्वमना भगवान पर आश्रित हो जाता है। जिस प्रकार माता शिशु की रक्षा करती है। उसी प्रकार भगवान भक्त की रक्षा करते हैं। भक्त के उद्धार के लिए ही निर्गुण ब्रह्म सगुण भगवान बन जाता है, राम और कृष्ण आदि रूपों में अवतरित होता है। इन्हीं रूपों में आकर भगवान शरणागत भक्तों की रक्षा करते हैं। गीता कहती है-

'तेषामहं समुद्धकर्ता मृत्यु संसार सागरात्।'19

अर्थात् जन्म और मृत्यु के सागर से भक्त की नाव को भगवान ही पार लगाते हैं अर्थात् भक्तों के तारक भगवान ही है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि गीता के त्रियोग की धारणा में 'भक्ति योग' का महत्वपूर्ण स्थान है। जब भक्त अपने अहंकार का त्याग कर अपने आपको सर्वमना भगवान में समर्पित कर देता है और भगवान के शरणों में जाकर अभय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तो यही भक्तियोग का फलितार्थ सिद्ध होता है। भगवान भी तारक बनकर भक्त को संसार रूपी भव सागर से सदा सदा के लिए निर्लिप्त कर देते हैं, यही गीता के भक्तियोग का हार्द एवं निकष है।

सन्दर्भ सूची

1. नारद सूत्र, 16/18
2. "नाहं वसामि बैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्रगायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।"
3. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पश्च्छामि त्वां धर्म सम्भूढ़ चेता।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां" प्रपन्नं।
4. भगवदगीता 17/2
5. वही, 17/4
6. श्रीमद् भागवत 4/3/23
7. भगवदगीता, 17/28
8. वही, 12/2
9. वही, 12/6
10. वही, 8/14
11. वही, 12/8
12. वही, 12/13-14
13. वही, 12/18-19
14. वही, 12/20
15. श्री भाष्यं, 1/1/1
16. भगवद गीता, 11/55
17. वही, 7/16
18. वही, 18/66
19. वही, 12/17

निदेशक
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं - 341 306 (राज.)

♦ ♦ ♦